15

''दोष न लगाओ''

(मत्ती 7:1, 2)

पहाड़ी उपदेश पर अपने अध्ययन में हम मत्ती 7 अध्याय पर आ गए हैं। यह अध्याय कई विषयों को छूता है। जिस कारण कइयों को लगता है कि यह अध्याय असम्बद्ध शिक्षाओं का संग्रह है। परन्तु ध्यान से देखने पर पता चलता है कि अधिकतर भाग दो मुख्य विषयों को मानने पर हैं। इनमें से पहला यह है कि संसार में रहते हुए हम दूसरों से कैसा सम्बन्ध रखते हैं, और दूसरा प्रभु की आज्ञा मानने का महत्व है।

मसीही जीवन जीने में हम सबके सामने जो एक चुनौती आती है, वह यह है कि हमारा सम्बन्ध दूसरे लोगों के साथ कैसा है। पहाड़ी उपदेश में इस विषय पर पहले दी गई कई शिक्षाएं हैं: दूसरों के प्रति दयावन्त बनो (5:7), मेल करने वाले बनो (5:9), अच्छा प्रभाव बनो (5:13-16) और भाई पर क्रोधित रहने के बजाय उससे मेल कर लो (5:21-24)। मसीह ने यह भी बताया कि जो हमें दुख पहुंचाए (यानी हमारे दुश्मनों) के साथ कैसा सम्बन्ध हो (5:38-48)। अब 7:1-12 में हमें इस महत्वपूर्ण विषय को समर्पित यह पूरा भाग मिलता है।

इन आयतों से छह नियम यानी दूसरों के साथ मिलकर रहने की छह आवश्यक बातें जानी जा सकती हैं। इस पाठ में हम केवल दो आयतों में इनमें से पहली पर ही बयान देंगे। पहली दो आयतें न्याय करने के बारे में हैं, इस कारण मैं इस पाठ को ''दोष न लगाओं'' नाम दे रहा हूं।

यीशु ने जो आज्ञा दी (7:1क)

यदि हम दूसरों के साथ मिलकर चलना चाहते हैं तो यीशु ने कहा कि इसका पहला कदम दोष लगाने वाले होना बन्द करना है। आयत आरम्भ होती है, ''दोष मत लगाओ'' (मत्ती 7:1क)। मूल धर्मशास्त्र में इस्तेमाल किया गया रूप संकेत देता है कि उसके सुनने वालों को न्याय करने वाला होना *बंद करना* आवश्यक है।[1] विलियम्स के अनुवाद में है, ''दूसरों की आलोचना करना बंद करो।''[2]

एक सार्वभौमिक आवश्यकता को पूरा करना

सम्बन्धों पर बड़े ही सकारात्मक सुनहरी नियम के साथ समाप्त होने वाले इस वचन का आरम्भ नकारात्मक लगता है। यीशु ने यह आरम्भ कई कारणों से किया हो सकता है। उसने दोष लगाने पर चेतावनी से आरम्भ इसलिए किया हो सकता है क्योंकि उसके सुनने वालों को इस ताड़ना की आवश्यकता थी। आज हमें उसकी ताड़ना की आवश्यकता है। मत्ती 7:1 में यीशु की आज्ञा को तोड़े बिना शायद चौबीस घण्टे बीतते होंगे। जितनी जल्दी उस आज्ञा को मानने में नाकाम रहना सम्बन्धों को बिगाड़ता है उतना और कोई नहीं।

बुरे प्रभाव को रोकना

फिर, यीशु ने दोष लगाने के विषय से आरम्भ इसलिए किया हो सकता है क्योंकि शास्त्री और फरीसी कभी उसके दिमाग से दूर नहीं होते थे।[3] लूका के अनुसार वे इसकी शिक्षाओं में यीशु के पीछे-पीछे रहते थे कि उस पर आरोप लगाने के लिए कोई कमी उन्हें कोई दोष मिल जाए (देखें लूका 6:1-7)। यूहन्ना के अनुसार उसे बैरी (फरीसियों सहित) उसे मार डालने की योजना पहले से बना रहे थे (देखें यूहन्ना 5:18)।

शास्त्री और फरीसी वैसा ही दोष लगाने या न्याय करने के दोषी थे। वे समाज के बड़े भागों यानी महसूल लेने वालों (लूका 18:9-14), सामरियों और अन्य जातियों पर दोष लगाते थे। इसके अलावा वे अपने आपको किसी से भी बेहतर मानते थे। वे दूसरों को घटिया समझते और उन पर तरस नहीं खाते थे। यदि हम दूसरों को साथ लेकर चलना चाहते हैं तो हमारी धार्मिकता ''शास्त्रियों और फरीसियों की धार्मिकता से बढ़कर'' होनी आवश्यक है (मत्ती 5:20)।

नकारात्म पहलू को निकालना

यीशु ने इस प्रकार आरम्भ इसलिए भी किया हो सकता है क्योंकि सकारात्मक में जाने से पहले सम्बन्धों के नकारात्मक पहलू को निकालना चाहता था। फूल लगाने से पहले कई बार घास-फूस निकालनी आवश्यक होती है। कारण जो भी हो, दूसरों को साथ लेकर चलने पर चर्चा का आरम्भ यीशु ने इसी से किया कि ''दोष मत लगाओ कि तुम पर भी दोष न लगाया जाए।''

यीशु का अर्थ जो नहीं था (7:1क)

सांसारिक सोच वालों और बाइबल के अनपढ़ लोग पवित्र शास्त्र के कुछ वचनों को जानते हैं जिनमें से एक यह है।[4] अधार्मिक लोग विशेषकर KJV के इस अनुवाद से परिचित हैं ''न्याय मत करो ताकि तुम्हारा भी न्याय न किया जाए।''

मैंने ये शब्द बहुत करके दोषी लोगों या दोषियों के साथ सहानुभूति रखने वालों के मुंह से सुने हैं। ये लोग ''दोष मत लगाओ'' या न्याय मत करो की व्याख्या इस अर्थ में करते हैं कि हमें कभी यह नहीं कहना चाहिए कि कोई गलत है। वे यह नहीं मानते कि मसीही लोगों को किसी को चौकस करना चाहिए कि मन फिराकर अपने तरीकों को बदलने से इनकार करने वाले पापियों को भयंकर परिणाम भुगतने पड़ने वाले हैं। क्या यीशु का यही बताने का इरादा नहीं था? यह ध्यान देने से पहले कि मत्ती 7:1 में ''दोष'' शब्द का क्या अर्थ है, मैं यह ज़ोर देना चाहता हूं कि इसका अर्थ क्या *नहीं* है।

सरकारी न्याय के विरुद्ध नहीं

बाइबल अपना विरोध नहीं करती, इस कारण यीशु के शब्दों का अर्थ यह *नहीं* है कि हम सरकारी निर्णय को (यानी देश के कानून) को न मानें। परमेश्वर ने सरकारी कानून को न्याय करने का अधिकार दिया है (देखें 1 पतरस 2:13, 14; तीतुस 3:1; रोमियों 13:1)।

कलीसिया के अनुशासन को भंग न करना

मैं एक जवाब की कल्पना करता हूं ''बेशक यह वचन सरकारी निर्णयों से जुड़ा नहीं है।

यह मण्डली या इसके एल्डरों को किसी भी सदस्य का न्याय यह कहते हुए करने पर दोषी बताता है कि वे गलत हैं और उन्हें सुधारा जाना आवश्यक है!'' कलीसिया के बाहर के लोग ही नहीं, कलीसिया के कुछ लोग भी ऐसा ही सोचते हैं। एक मण्डली के अगुवे ने मुझ से कहा, ''जहां मैं सेवा करता हूं, वहां हमने कभी किसी को संगति से नहीं निकाला। आखिर यीशु ने ही तो कहा है कि दोष मत लगाओ कि तुम पर भी दोष न लगाया जाए।''

फिर से मैं कहता हूं कि बाइबल अपना विरोध नहीं करती। जिस कारण मत्ती 7:1 यह *नहीं* सिखाता कि हमें कलीसिया में अनुशासन नहीं रखना चाहिए। यीशु, जिसने कहा, ''दोष मत लगाओ,'' उसी ने कलीसिया में अनुशासन रखने की बात बताई (मत्ती 18:15-17)। जब उसने सब सत्य में अपने प्रेरितों को अगुआई के लिए पवित्र आत्मा को भेजा (यूहन्ना 16:13) तो उसने कलीसिया के आवश्यक अनुशासन पर जबर्दस्त ढंग से लिखने के लिए पौलुस व अन्य लोगों को प्रेरणा दी (1 कुरिन्थियों 5:5, 9; 2 थिस्सलुनीकियों 3:6, 14, 15; तीतुस 3:9-11)।

व्यक्तिगत न्याय का गलत ठहराना नहीं

मैं एक और जवाब की कल्पना करता हूं: ''हो सकता है यह वचन कलीसिया के अनुशासन की बात न करता हो, पर कम से कम यह सिखाता है कि निजी मसीहियों के रूप में हमें यह कहने का अधिकार नहीं है कि कोई नैतिक रूप में या शिक्षा में गलत है।'' एक बार फिर मैं ज़ोर देता हूं कि बाइबल अपना ही विरोध नहीं करती। यह सच है, इसका मतलब है कि मत्ती 7:1 यह नहीं सिखाता कि दूसरे लोगों के सम्बन्ध में हम कभी न्याय नहीं कर सकते। मत्ती 7:3-12 पर पाठ में हम आयत 6 का अध्ययन करेंगे, जो कहती है, ''पवित्र वस्तु कुत्तों को न दो और अपने मोती सूअरों के आगे मत डालो, ...।'' इस बात का निर्णय किए बिना कि ''कुत्ते'' कौन हैं और ''सूअर'' कौन, हम इस आज्ञा को पूरा नहीं कर सकते। अगले एक पाठ में हम मत्ती 7:15-20 का अध्ययन करेंगे जो झूठे भविष्यवक्ताओं के विरुद्ध चेतावनी देती है और कहती है कि हम झूठे भविष्यवक्ताओं को उनके परिश्रम को ''फलों'' से पहचान सकते हैं: ''उनके फलों से तुम उन्हें पहचान लोगे'' (आयत 16क)। (पहले प्रचारक कहते थे, ''हम न्यायी नहीं हैं, हम तो फलों को परखने वाले हैं।'') कई आयतें संकेत देती हैं कि कई बार हमें दूसरों का न्याय करना आवश्यक होता है (रोमियों 16:17; गलातियों 1:8, 9; फिलिप्पियों 3:2; 1 यूहन्ना 4:1)।

जो यीशु का मतलब था (7:1क)

अभी भी इस प्रश्न का उत्तर नहीं मिला है कि ''हमारे वचन पाठ में 'दोष' या न्याय करने के शब्द का क्या अर्थ है?'' अनुवादित शब्द ''दोष'' का यूनानी (*krino*) शब्द वही है, जिससे आलोचना के लिए अंग्रेजी शब्द ''criticize'' मिला है। आमतौर पर हम किसी दूसरे की खामियों की ओर ध्यान दिलाते हुए ''आलोचना'' शब्द को नकारात्मक अर्थ में लेते हैं, परन्तु ''आलोचना'' शब्द का मूल अर्थ ''मूल्यांकन करना'' था। मूल्यांकन सकारात्मक भी हो सकता है और नकारात्मक भी, अच्छा भी हो सकता है और बुरा भी; विनाशकारी भी हो सकता है और सृजनात्मक भी। यीशु ने स्वयं सुनने वालों के एक समूह से कहा, ''मुंह देखकर न्याय न चुकाओ, परन्तु ठीक-ठीक न्याय चुकाओ'' (यूहन्ना 7:24)।

मत्ती 7:1 दूसरों को न्याय करने के विरुद्ध पर्दा उठाने का आदेश नहीं है। परमेश्वर ने हमें प्रमाण को नापने अर्थात मूल्यांकन करने और निर्णय देने की योग्यता दी है। इसके बावजूद यीशु के शब्द यह सिखाते हैं कि *ऐसी क़िस्म* का न्याय है जिसे करने से हमें बचना चाहिए। मैं यीशु द्वारा गलत ठहराए गए न्याय की किस्म के कई पहलुओं का सुझाव देता हूं।

पक्षपात पूर्ण न्याय

आम पाई जाने वाली कमी अपनी पृष्ठभूमि, पूर्वधारणाओं और प्राथमिकताओं को ध्यान में रखकर न्याय किया जाता है। इससे बचना कठिन है। मैंने पढ़ा कि यूनानी लोग महत्वपूर्ण पेशियां अंधेरे में करते थे ताकि केवल तथ्यों से ही प्रभावित हों। समाजशास्त्री बताते हैं कि बहुतों के न्याय करने वाले होने का एक कारण यह है कि वे कम सम्मान से पीड़ित होते हैं। जब किसी का अपने लिए विचार कम हो तो या तो अपने आपको ऊंचा उठाएगा या दूसरों की टांग खींचेगा। कइयों को दूसरों की टांग खींचना आसान लगता है।

असूचित न्याय

आमतौर पर हम बिना सभी तथ्यों के या पूरे हालात को जाने जल्दबाज़ी में न्याय कर देते हैं। हम में से कुछ लोग हालात की आधा दर्जन ईंटें लेकर आरोपों की ऊंची दीवार बना देते हैं। आमतौर पर हमें मालूम नहीं होता कि वास्तव में क्या हुआ था। हमें आरोपी की पृष्ठभूमि का या इस बात का पता नहीं होता कि उसे प्रेरणा कैसे मिली। आरोपी के जीवन में यह नियम था या अपवाद हमें इन तथ्यों का भी पता नहीं होता। यीशु ने भीड़ से कहा कि ''ठीक-ठीक न्याय करो'' पहले उसने यह कहा कि ''मुंह देखा न्याय न करो'' (यूहन्ना 7:24)।

असम्भव न्याय

आमतौर पर जब हम दूसरों का न्याय करते हैं तो हम उसके पीछे की प्रेरणा को दोषी ठहरा रहे होते हैं। हम यीशु नहीं हैं, जो ''जानता था कि मनुष्य के मन में क्या है'' (यूहन्ना 2:25), इस कारण हम पक्का नहीं बता सकते कि किसी की मंशा क्या है ''उसने यह या वह किया''; पर हम यकीन से नहीं यह नहीं कह सकते ''उसने यह या वह *इसलिए* किया। ...'' पौलुस ने पूछा, ''मनुष्य की अपनी आत्मा के अलावा मनुष्य के विचारों में से गुजरने वाली बातों की कौन व्यक्ति कल्पना (जान और समझ) सकता है?'' (1 कुरिन्थियों 2:11क; AB)। तौ भी कई बार ऐसे शब्द सुनने में आते हैं ''उसे लगता है कि वह बहुत समझदार है!''; ''उसे सचमुच लगता है कि वह कुछ है!''[5] कितनी बार हम दूसरों की मंशा को दोषी ठहरा देते है।

बेदर्द न्याय

यीशु ने लोगों द्वारा की जाने वाली सबसे बेकार सम्भव संरचना की भी निन्दा की। इसके बजाय हमें उन्हें जहां तक हो सके, बेहतर ढंग से देखने का प्रयास करना चाहिए। जेम्स मौफेट के 1 कुरिन्थियों 13:7 के अनुवाद में कहा गया है कि प्रेम ''सदा बेहतर विश्वास करने में उत्सुक रहता है।'' यह सच है कि हम किसी व्यक्ति के बारे में उससे अधिक जान सकते हैं जितना वह

अपने बारे में जानता है। पर कई बार उसके काम कम से कम दो अलग-अलग व्याख्याएं करने में सक्षम होते है, जिनमें एक अच्छी और एक बुरी है। ऐसा होने पर जो कुछ उसने किया है हम उसकी क्या व्याख्या करेंगे?

कठोर न्याय

ऊपर दिए न्याय करने के नकारात्मक ढंगों के कारण कई बार हम कठोर, कटु, और उग्र समालोचक बन जाते हैं। इसके बजाय हमें करुणा और प्रेम से न्याय करने वाले होना चाहिए। पतरस ने लिखा, ''सबमें श्रेष्ठ बात यह है कि एक दूसरे से अधिक प्रेम रखो; क्योंकि प्रेम अनेक पापों को ढांप देता है'' (1 पतरस 4:8)। दूसरों को साथ लेकर चलने में बड़ी बात मन की है। एक ओर तो प्रेमी, सहानुभूति करने वाला मन है जो बेहतरीन पर विश्वास करता और ऊपर उठाने और सहायता करने की कोशिश करता है। दूसरी ओर, कठोर, बेदर्द, न्याय करने वाला मन है जिसे किसी के ''वह पाने पर जिसका वह हकदार है'' आनंद आता है।

जिसकी प्रतिज्ञा यीशु ने की (7:1ख, 2)

दया की आवश्यकता

यह कहने के बाद कि ''दोष न लगाओ'' (आयत 1क) यीशु ने आगे जोड़ा, ''तुम पर भी दोष न लगाया जाए'' (आयत 1ख)। फिर उसने आयत 2 में इस विचार का विस्तार दिया: ''क्योंकि, जिस प्रकार तुम दोष लगाते हो, उसी प्रकार तुम पर भी दोष लगाया जाएगा; और जिस नाप से तुम नापते हो, उसी से तुम्हारे लिए भी नापा जाएगा।'' कुछ हद तक पृथ्वी पर भी यह बात सच है। जीवन एक दर्पण की तरह है जिसमें आमतौर पर हमारे साथ वैसा ही व्यवहार होता है जैसा हम दूसरों से करते हैं। यह लूका के वृत्तांत वाले उपदेश के इस भाग पर ज़ोर दिया जाना हो सकता है:

> दोष मत लगाओ; तो तुम पर भी दोष नहीं लगाया जाएगा: दोषी न ठहराओ, तो तुम भी दोषी न ठहराए जाओगे: क्षमा करो, तो तुम्हारी भी क्षमा की जाएगी। दिया करो, तो तुम्हें भी दिया जाएगा: लोग पूरा नाप दबा दबाकर और हिला-हिलाकर और उभरता हुआ तुम्हारी गोद में डालेंगे, क्योंकि जिस नाप से तुम नापते हो, उसी से तुम्हारे लिए भी नापा जाएगा[6] (लूका 6:37, 38)।

लूका 6:37ख, में LB का अनुवाद इस प्रकार है ''दूसरों से सहज रहो; तो तुम्हारे साथ भी ऐसा ही होगा।''

परन्तु संदर्भ में यीशु विशेष रूप से *परमेश्वर के* न्याय की बात कर रहा था। संसार के वस्त्र में बुना एक नियम यह है कि आज नहीं तो कल हम वह ही काटेंगे जो हमने बोया है (गलातियों 6:7)। हामान को उसी फंदे पर लटकाया गया था जो उसने मोर्दकै के लिए बनाया था (एस्तर 7:10)। सभोपदेशक 10:8क कहता है कि ''जो गड्ढा खोदे वह उसमें गिरेगा।'' मत्ती 7:1, 2 विशेष रूप से परमेश्वर के *अनन्त* न्याय पर लागू होता है (देखें 7:21-27)। एक दिन हम में

से हर किसी को प्रभु के सामने खड़े होना है और ''परमेश्वर को अपना-अपना लेखा'' देना है (रोमियों 14:12)। अन्त में बात तो न्याय पर ही खत्म होगी।

अपने आपको एक बड़े सिंहासन के सामने खड़े होने की कल्पना करें (प्रकाशितवाक्य 20:11)। जहां आप का न्याय उसी के अनुसार हो रहा है जैसा आपने दूसरों के साथ किया है यानी उसी नाप से नापा जा रहा है जिससे आपने दूसरों को नापा था। यदि आपका न्याय इस प्रकार हो तो आप दाहिनी ओर जाएंगे या बाईं ओर (मत्ती 25:31-33)? याकूब की पुस्तक के इन कंपा देने वाले शब्दों पर विचार करें ''क्योंकि जिसने दया नहीं की उसका न्याय बिना दया के होगा'' (याकूब 2:13क)।

सहजबुद्धि की आवश्यकता

शायद मुझे यह कहने के लिए रुकना चाहिए कि मत्ती 7:1-12 में ताड़नाओं के सम्बन्ध में कुछ सहजबुद्धि बरतना आवश्यक है। 1 और 2 आयतों यीशु यह नहीं कह रहा था कि ईश्वरीय न्याय की बात उसी स्तर पर होगी जिस पर हमने न्याय किया है। वह यह नहीं बता रहा था कि यदि हम सोचते हैं कि किसी का जीवन चाहे कैसा भी हो सब कुछ सही है तो परमेश्वर भी कह देगा कि हम आत्मिक रूप में सही हैं। हमारे पास यदि केवल पहाड़ी उपदेश का शेष भाग ही होता तो भी हम 7:1, 2 की ऐसी व्याख्या को सच नहीं मानते। उपदेश के अन्त में यीशु ने कहा कि जो उसकी बातें सुनता और उन्हें *मानता* है वह उस बुद्धिमान की तरह है जिसने अपना घर चट्टान पर बनाया (7:24, 25)।

दीनता की आवश्यकता

यीशु किस बात पर *जोर* दे रहा था। अन्य महत्वपूर्ण नियमों के अलावा एक नियम यह है कि चाहे हमें लगातार निर्णय लेने पड़ें पर हम परमेश्वर नहीं हैं। इसी सच्चाई पर पौलुस ने जोर दिया:

> तू कौन है जो दूसरे के सेवक पर दोष लगता है। उसका स्थिर रहना या गिर जाना उसके स्वामी पर निर्भर करता है ... (रोमियों 14:4)।
>
> ... यह बहुत छोटी बात है, कि तुम या ... कोई न्यायी मुझे परखे, वरन मैं आप ही अपने आप को नहीं परखता। ... परन्तु इस से मैं निर्दोष नहीं ठहरता, क्योंकि मेरा परखने वाला प्रभु है। सो जब तक प्रभु न आए, समय से पहिले किसी बात का न्याय न करो: वही तो अन्धकार की छिपी बातें ज्योति में दिखाएगा, और मनों की मतियों को प्रगट करेगा, तब परमेश्वर की ओर से हर एक की प्रशंसा होगी (1 कुरिन्थियों 4:3-5)।

जॉन आर. डब्ल्यू. स्टॉट ने लिखा है ''यीशु हमें मनुष्य होना बंद होने के लिए नहीं (अपनी निर्णायक शक्तियों से जो हमें पशुओं से फर्क करने में सहायता करती है), बल्कि परमेश्वर बनने की अति विश्वासी अभिलाषा को त्यागने के लिए कहता है।''[7] हम परमेश्वर नहीं है इसलिए हमारे सभी न्यायों में आवश्यक है कि कमी होगी। दूसरों के साथ अपने सम्बन्धों में हमें याद रखना आवश्यक है कि अन्त में हम और वे दोनों परमेश्वर के सामने खड़े होंगे और अन्तिम

न्याय परमेश्वर ही करेगा। इसलिए हमें चाहिए कि दूसरों के साथ व्यवहार में दयालु कृपालु और धीरज वाले बनें।

सारांश

मत्ती 7:1-12 में यीशु पहले हमें सूचित करता है कि यदि हम लोगों को साथ लेकर चलना चाहते हैं तो हमें दोष लगाने वाले होना बंद करना पड़ेगा। मत्ती 7:3-12 पर पाठ में हम अपने वचन पाठ से पांच अतिरिक्त सुझाव लेंगे। यदि हम दूसरों को साथ लेकर चलना चाहते हैं तो ...

- हमारी पहली चिन्ता अपने जीवनों में परिवर्तन लाने की हो (आयतें 3-5)।
- दूसरों की सहायता के लिए हमारे प्रयास दीनता और संवेदनशीलता से हों (आयत 5)।
- हमें यह समझना होगा कि हर व्यक्ति अलग है और हमें यह सीखने की कोशिश करनी चाहिए कि कठिन व्यक्ति से कैसे व्यवहार करना है (आयत 6)।
- हमें परमेश्वर पर निर्भर रहना सीखना आवश्यक है (आयतें 7-11)।
- हमें सुनहरी नियम के अनुसार चलना आवश्यक है (आयत 12)।

हमने दूसरों के साथ अपने सम्बन्धों पर चर्चा की है। मैं परमेश्वर के साथ अपने सम्बन्धों पर कुछ शब्द कहकर समाप्त करना चाहता हूं। यीशु ने कहा कि उद्धार पाने वाले लोग वे होंगे जो उसमें विश्वास करके बपतिस्मा लेंगे (मरकुस 16:16), यानी वे ही लोग जीवन के मुकुट को पाएंगे जो मरने तक वफादार हैं (प्रकाशितवाक्य 2:10)। अपनी प्रेरणा दिए प्रेरितों के द्वारा उसने कहा कि मसीही लोग जो पाप करते हैं उन्हें क्षमा करने के लिए मन फिराना और प्रार्थना करना आवश्यक है (प्रेरितों 8:22)। यह मेरे न्याय नहीं है यह तो परमेश्वर के वचन की स्पष्ट शिक्षा है। उसकी शिक्षाओं को आपका मानना या न मानना यह तय करेगा कि आप अनन्तकाल का समय कहां बिताएंगे (मत्ती 7:21-23, 24-27)। यदि आपको मसीही बनने या घर वापसी की आवश्यकता है तो अभी आ जाएं।

टिप्पणियां

[1]"न्याय" शब्द का अनुवाद निरंतर क्रिया का संकेत देते हुए वर्तमानकाल में है। [2]चार्ल्स बी. विलियम्स, *दि न्यू टैस्टामेंट: ए ट्रांसलेशन इन द लैंग्वेज ऑफ़ द पीपल* (शिकागो: मूडी प्रैस, 1949), 23. [3]पहाड़ी उपदेश पर अपने अध्ययन में शास्त्रियों और फरीसियों के यीशु के कुछ प्रत्यक्ष और परोक्ष हवाले हमने पहले देखे हैं। [4]अमेरिका में ऐसा ही होता है। जहां आप रहते हैं उसके अनुकूल बनाने के लिए वाक्य बदल लें। [5]ऐसी न्यायपूर्ण अभिव्यक्तियों का इस्तेमाल करें जिनसे आपके सुनने वाले परिचित हो सकें। [6]दान की आशिषों पर लूका 6:38 एक बड़ी आयत है। सामान्य रूप में दान की प्रासंगिकता बनाई जा सकती है, पर यहां विशेष रूप से उस तथ्य की बात है कि दया "देने" वाले को दया "मिलेगी।" [7]जॉन आर. डब्ल्यू. स्टॉट, *दि मैसेज ऑफ़ द सरमन ऑन द माउंट* (डाउनर्स ग्रोव, इलिनोइस: इंटर-वर्सिटी प्रैस, 1978), 177.